SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

Hkkjr dk efgyk vfèkdkj lQj vkj t-,l- fey dh txycnh%,d v/;;u

euk t voLFkh] (Ph.D.), राजनीति विज्ञान विभाग
सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author

euk t voLFkh] (Ph.D.), राजनीति विज्ञान विभाग
सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय,
अजमेर, राजस्थान, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 16/03/2023
Revised on : -----
Accepted on : 23/03/2023
Plagiarism : 00% on 16/03/2023

Plagiarism Checker X - Report
Originality Assessment
Overall Similarity: 0%
Date: Mar 16, 2023
Statistics: 12 words Plagiarized / 4967 Total words
Remarks: No similarity found, your document looks healthy.

'kks/k lkj

जॉन स्टुअर्ट मिल ने उदारवाद की जो संकल्पना प्रस्तुत की वह समाज में राजनैतिक उपचारों के द्वारा सुधारों के लिए मार्ग बनाने का मानचित्र बनी। समाज परंपरागत संदर्भों को लेकर आधुनिकता में प्रवेश करता है। यद्यपि मिल अपनी विवेचना ब्रिटेन के समाज के संदर्भ में कर रहे थे पर उनके विचारों से मिलती–जुलती पृष्ठभूमि यथा पुरुष वर्चस्ववादी मूल्य और संस्थायें भारत में भी उपस्थित थीं। स्त्री के आर्थिक–सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्षों को वैश्विक स्वर प्रदान करने में मिल की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में तथा स्वतंत्र भारत के रूप में दोनों ही स्तरों पर भारतीय राजनैतिक व सामाजिक संस्थाएं तथा आंदोलन व उनकी निर्माण प्रक्रियाएं स्त्री संघर्षों की गाथा सामने लाती हैं।

e[; 'kCn

mnkjokn] lekt lèkkj] L=h vfèkdkj] L=h vkUnkyu] loèkkfud mipkj] ykdr=-

''कुछ दिनों में यही, अर्थात् सामाजिक स्वाधीनता का विषय सबसे बढ़कर समझा जाएगा। इसी से खूब सोच समझकर इस पर कुछ लिखने की बड़ी जरूरत है। यह कोई नया विषय नहीं है– यह कोई नई बात नहीं है। सच तो यह है कि बहुत पुराने जमाने से, इस विषय में लोगों का मतभेद चला आता है। एक दूसरे की राय आपस में नहीं मिलती आई है। परंतु, संसार में इस समय जो लोग सबसे अधिक सभ्य समझे जाते हैं, अर्थात् जिनमें शिक्षा, शिष्टता, सुधार या शाइस्तगी बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुंच गई है, उनमें इस विषय नें एक नया ही रूप धारण किया है– एक नया ही रंग पकड़ा है। इसी से इस विषय को एक नए ढंग से बयान करने की जरूरत है इसलिए इसकी गंभीर गंवेषणा, अर्थात् गहरी जांच की आवश्यकता है।''[1] जे.एस. मिल 'आन लिबर्टी' में दरअसल

एक समाज एक ही वक्त में अनेक जीवन समांतर जी रहा होता है। हां, यह अलग बात है, कि उन अलग अलग जीवनों की गतियाँ अलग अलग होती है। मसलन एक समाज के विभिन्न जीवनों को हम सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, तार्किक व नेतृत्व की प्रकृति की दृष्टि से माप सकते हैं, विभाजित कर सकते हैं। इन जीवनों के प्रभाव एवं दीर्घजीविता समाज की सहमति व समायोजन की मानसिकता पर निर्भर करती है। राजनीतिक व्यवस्था इसमें निर्णायक स्थिति में होती है, यह बात भी संदेह के दायरे से परे है। ''जब हम राजनीतिक व्यवस्था का जिक्र करते हैं, तो हम उन सभी अन्तः क्रियाओं को इनमें शामिल करते हैं जिनसे औचित्य पूर्ण भौतिक जोर–जबर्दस्ती के प्रयोग को या इसके प्रयोग की धमकी को प्रभावित किया जाता है। राजनीतिक व्यवस्था में ना केवल विधायिकाएं, न्यायालय और प्रशासनिक एजेंसियों जैसी सरकारी संस्थाएं शामिल की जाती हैं, बल्कि अपने राजनीतिक पहलुओं में सभी संरचनाओं को भी शामिल किया जाता है। इसमें परंपरागत संरचनाऐं भी शामिल है जैसे रक्त संबंध और जातीय समूह साथ ही राजनीतिक दलों, हितबद्ध गुटों और संचार माध्यमों को इसके अंतर्गत शामिल किया जाता है।''[2]

उदारवाद को एक वैचारिकी के रूप में स्थापित करने का अधिकारिक श्रेय ब्रिटेन में जॉन स्टुअर्ट मिल को जाता है। हालांकि इसकी शुरुआत मिल से नहीं मानी जा सकती, उनसे पहले भी ब्रिटेन में 'किस्तों में उदारवाद' दिखाई दिया है। मैं मिल के पूर्ववर्तियों का अधिकार नहीं छीन रहा, बल्कि इस बात पर दृढ़ हूँ कि एक सुदृढ़ तथा आधिकारिक विचार के रूप में सबसे पहले ब्रिटेन में यह जे. एस. मिल के विचारों के रूप में उभर कर सामने आया, या उनके विचारों में दिखाई दिया। जॉन लॉक को 'उदारवाद की आत्मा' के रूप में मिली पहचान को मैं नजरअंदाज नहीं कर रहा, लेकिन हां मिल ने उस आत्मा को शरीर दिया है, इसमें भी कोई संदेह नहीं है। विचारों के वातावरण के प्रभुत्व से 'निर्मितीकरण तथा उसके विरुद्ध विरोध के रूप में प्रस्फुटित होने की स्वीकृति' लगभग प्रत्येक विचार परंपरा में विद्यमान रही है। ब्रिटेन भी इससे पृथक नहीं था। यहाँ एक दिलचस्प उदाहरण आपके सामने रखना चाहूँगा, कि 'भारत के सामाजिक वातावरण में और ब्रिटेन के सामाजिक वातावरण में एक अजीब सा साम्य' दिखाई देता है। पाठक मेरे इस दृष्टिकोण से असहमत हो सकते हैं, लेकिन मुझे ऐसा लगता है। ऐसा मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि परंपरागत समाज के संदर्भों की शुरुआत तो आधुनिक समय में ब्रिटेन से ही मानी जाती है, हालांकि उससे बहुत पहले भारत का समाज भी अपनी परंपरागतता व आधुनिकता के मध्य ब्रिटेन से कहीं बहुत दूर नहीं था। ''अपेक्षाकृत रूप से आधुनिकीकृत समाज की सामाजिक संरचना विकसित हो सकी। इसकी प्रक्रिया क्रमिक थी। मध्ययुगीन समाज में छुटपुट प्रतिरोध आंदोलनों से यह प्रारंभ हुई।''[3] दरअसल सामाजिक संगठनों की तात्कालीन योरोपीय प्रवृतियाँ सामंतवादी–प्रकार्यात्मक तथा पितृसत्तात्मक थी, इनके विघटन के बाद ही यूरोप में कुछ सामाजिक बदलाव दिखाई देने शुरू हुए थे। उस समय के पितृसत्तात्मक–सामंती समाज में मिल ने एक क्रमागत वैचारिक कार्यक्रम के रूप में उदारवाद को प्रस्तुत किया। विशेष तौर से 'स्त्रियों के अधिकारों के संदर्भ में उनका लेखन बेहद प्रभावशाली तथा भविष्य की स्थायी इबारत' के रूप में गिना जा सकता है। ''मिल सदियों पुराने पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों–विचारों–संस्थाओं के टूटने की प्रक्रिया लंबी मानते थे और इस प्रक्रिया की शुरुआत के लिए स्त्री पुरुषों के बीच पूर्ण कानूनी समानता, स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता, शिक्षा और रोजगार के समान अवसर तथा सामाजिक–राजनीतिक सक्रियताओं में स्त्रियों की भागीदारी को अनिवार्य बुनियादी शर्त मानते थे।''[4]

अब पाठक भारत के धुर परंपरावादी समाज की परिकल्पना करें तो पाएंगे कि सामाजिक संदर्भों में हम ब्रिटेन से कहीं बहुत ज्यादा दूर नहीं थे। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की विफलता के बाद तो ब्रिटेन ने जिस तरह भारत के संदर्भ में समाज सुधारों से हाथ खींचे थे, वह इस बात का उदाहरण माने जा सकते हैं। वह सामाजिक संशोधनों के प्रति ज्यादा गंभीर नहीं थे, और इस बात को अनुभव कर रहे थे कि किसी विश्वास परंपरा में हस्तक्षेप उनके आर्थिक–राजनीतिक उद्देश्यों के मार्ग में व्यवधान खड़े कर सकते हैं। आधुनिक काल में स्त्री अधिकारों के संरक्षण की बात भारत के संदर्भ में राजा राममोहन राय से शुरू मानी जा सकती है। हालांकि उनसे पहले भी यह प्रयास प्रारंभ हुए थे, पर वह टुकड़ा–टुकड़ा थे किसी निश्चित रणनीतिक कार्यक्रम के रूप में नहीं।'' हालांकि राय पहले भारतीय से जिन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया, अमेरिकी मिशनरियों ने इसे 18वीं सदी की हिंदू पशुता

की संज्ञा दी, जबकि अंग्रेज शासकों ने इसे भारत में शासन करने का कारण माना (सभ्यता मिशन) बहरहाल कुछ वर्षों तक ब्रिटिश संसद ने सती प्रथा के खिलाफ कानून बनाने से यह कहते हुए इनकार कर दिया कि इसे हिंदुओं के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप माना जाएगा।''[5]

1815 में राजा राममोहन राय ने सती प्रथा को चुनौती देता हुआ अपना पहला आलेख बांग्ला भाषा में लिखा और तत्कालीन प्रबुद्ध बांग्ला समाज में एक नई बहस की शुरुआत की। इसी दौरान वे सामाजिक धार्मिक व सांस्कृतिक तीनों स्तरों पर इस संघर्ष को जुड़े हुए थे और बंगाल के गवर्नर विलियम बेंटिक उनके प्रशंसक तथा निजी मित्रों में से एक थे। 1817 में तात्कालीन सुप्रीम कोर्ट के मुख्य पंडित मृत्युंजय विद्यालंकार द्वारा की गई घोषणा इस विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण थी, जिसमें उन्होंने सती की कोई शास्त्रीय मान्यता होने से इनकार किया'। इसके एक वर्ष बाद 1819 में विलियम बेंटिक ने प्रांत में सती प्रथा को प्रतिबंधित किया। इसके 11 वर्ष बाद जब विलियम बेंटिक भारत के गवर्नर जनरल हुए तो उन्होंने इसे भारत में भी प्रतिबंधित किया लेकिन ध्यान रहे की इसी समयावधि में एक परंपरावादी समाज के प्रतिनिधि इस प्रथा के विरोध को ब्रिटिश संसद व समाज दोनों स्थानों पर चुनौती दे रहे थे।'' 1830 मे हिंदू रूढ़िवादियों ने कलकत्ता में धर्म सभा की स्थापना की तथा सती प्रथा के खिलाफ बनाए गए कानून को समाप्त करने के लिए एक याचिका तैयार कर भारत के गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक और ब्रितानी संसद को भेज दी गई।''[6] ''रूढ़िवादियों के विरोध के आंशिक परिणाम के तौर पर कोई 10 वर्षों बाद भारतीय दंड संहिता (इंडियन पीनल कोड) में संशोधन किया गया। इस संशोधन में एक बार फिर स्वैच्छिक और जबरन सती में वैभिन्न दर्शाते हुए अपनी इच्छा अनुसार सती होने को कानूनी कवच प्रदान कर दिया गया।''[7] यही वह समय अवधि है जब स्त्रियों के आर्थिक अधिकारों को लेकर एक बहस राजा राममोहन राय ने तब के सभ्य समाज में शुरू की है और यहां आप जॉन स्टुअर्ट मिल की आवाज सुन सकते हैं जिनके अनुसार स्त्री की आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक, राजनीतिक, समानता ही समानता के आग्रहों के द्वार खोलेगी। यहाँ मैं सुधी पाठकों का ध्यान एक बहुत दिलचस्प तथ्य की ओर खींचना चाहूँगा, कि जॉन स्टुअर्ट मिल का 'सब्जैक्शन ऑफ वीमैन' (स्त्रियों की पराधीनता) निबंध 1869 में प्रकाशित हुआ और उससे 40 साल पहले भारत में प्रतीकात्मक रूप में ही सही सती प्रथा को पूरे देश में प्रतिबंधित किया गया है। कम से कम सविनय अवज्ञा आंदोलन से पहले भारत की यह जीत वह भी औपनिवेशिक इंग्लैंड के ऊपर एक मानसिक संतोष प्रदान करती है।'' मिल के अनुसार प्राचीन काल में बहुत से स्त्री–पुरुष दास थे। फिर दास प्रथा के औचित्य पर प्रश्न उठने लगे, और धीरे–धीरे यह प्रथा समाप्त हो गयी लेकिन स्त्रियों की दासता धीरे–धीरे एक किस्म की निर्भरता में तब्दील हो गयी। मिल स्त्री की निर्भरता को पुरातन दास्तां की ही निरंतरता मानते हैं जिस पर तमाम सुधारों के रंग रोगन के बाद भी पुरानी निर्दयता के चिन्ह आज भी मौजूद है, और आज भी स्त्री पुरुष समानता के मूल में 'ताकत' का वही आदिम नियम है जिसके तहत ताकतवर सब कुछ हथिया लेता है।''[8]

अब इस दृष्टि से भारत के स्त्री स्वतंत्रता आंदोलन का मूल्यांकन करें तो समझ पाते हैं कि भारत और ब्रिटेन में कितनी सामाजिक समानताएं विद्यमान है और वस्तुतः यही समानताएं दोनों ही देशों में स्त्री पुरुष असमानता का मूल कारण मानी जा सकती है। भारत में जहां इन्हें धार्मिक सामाजिक रूढ़ियों का कवच पहना दिया गया, वहीं ब्रिटेन में यह मध्ययुगीन सामंतवादी सोच का प्रतीक बनकर उभरी। भारत में जाति व्यवस्था ने इसे पोषित किया और ब्रिटेन में रूढिवादी समाज की आत्ममुग्धता ने।

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की तत्कालीन असफलता के बाद के लगभग 28 साल भारत और ब्रिटेन के मध्य आश्वासन तथा सुधार का दौर जारी रहा। कहना गलत नहीं होगा कि इनमें आश्वासन ज्यादा हावी रहे बजाय किसी क्रियात्मक सुधार के। कारण स्पष्ट था कि भारत से उनके औपनिवेशिक उद्देश्य ज्यादा बेहतरी के साथ तभी पूरे हो सकते थे, जब वह सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक संवेदनशील मसलों से खुद को पृथक रखें और ऐसा ही उन्होंने किया क्योंकि विलियम बेंटिक के सुधारवादी कदम के खिलाफ उठा सामूहिक परंपरा समर्थक विरोध एक नजीर के रूप में उनके सामने था। मिल के शब्दों में ''लेकिन प्रमाण के इन नियमों का लाभ उन लोगों को नहीं मिलेगा, जो मेरे मत से सहमत हैं। यहाँ यह कहना व्यर्थ है कि जो लोग इस सिद्धांत के पक्षधर हैं कि पुरुषों को

आदेश देने का हक है और महिलाओं को उसका पालन करना ही चाहिए, या यह है कि पुरुष शासन करनें के लिए योग्य है, और महिलाएं नहीं, उन्हें यह मानने के लिए सकारात्मक प्रमाण दिखाने होंगे या अपनी मान्यताओं को तिलांजलि देनी होगी। जो लोग पुरुषों को दी गई आजादी या सुविधा स्त्रियों के लिए निषेध मानते हैं तो उन्हें यह दुहरा अनुमान लगाते हुए कि वे आजादी के विरुद्ध है और पक्षपात का अनुमोदन कर रहे हैं, इस केस का सबसे प्रबल प्रमाण अपने पास रखना चाहिए। किसी भी सामान्य केस में यह बहुत अच्छी दलीलें मानी जाएंगी लेकिन इस केस में नहीं।''[9]

विधिशास्त्र के अनुसार 'साक्ष्यों का भार' एक पक्ष पर डालते हुए मिल ने विधिवादी समझदारी से यह साबित करने का प्रयास किया है कि परंपरावाद के समर्थकों को वह मजबूत और सशक्त तर्क रखनें होंगे जिनके माध्यम से वह स्त्री पर अपने प्रभुत्व को साबित कर सके। अब आप इसे व्यंग्य कहें या त्रासदी संपूर्ण दुनिया के इतिहास में यह आज तक कोई भी साबित नहीं कर पाया, हालांकि प्रत्येक संस्कृति, धर्म और समुदाय में यह चलन में है।

1885 देश के ही नहीं बल्कि अंतरराष्ट्रीय जगत में एक क्रांतिकारी वर्ष माना जा सकता है, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होती है और औपनिवेशिक भारत में एक सशक्त राजनीतिक मंच निर्मित करने के प्रयास प्रारंभ होते हैं। स्थापना के पहले दो दशक ब्रिटेन और भारत के बीच इस उदार मंच के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रयासों में ही बीते जिनमें बहुसंख्यक उदारवादी व अति अल्प गरमपंथियों के बीच कुछ आवाजें उठी, लेकिन दुर्भाग्यवश समाज सुधार व उनके माध्यम से स्त्री अधिकारों के संरक्षण या विस्तार की बात मौन ही रही। दरअसल इस अवधि में भारत के भीषण औपनिवेशिक आर्थिक शोषण के दस्तावेजों का प्रस्तुतीकरण एवं मूल्यांकन इन नेतृत्वकर्ताओं का एकमात्र लक्ष्य रहा और यह कहने में कोई संकोच नहीं कि इसमें वे कामयाब भी रहे। यह अवधि पूरी तरह महिला संबंधी विषयों से अलग रही हो ऐसा भी नहीं था।

1889 में हुए कांग्रेस के बंबई सत्र के प्रतिवेदन के अनुसार 'कम से कम 10 महिला प्रतिनिधियों ने मुंबई कांग्रेस में हिस्सा लिया, जिनमें से एक का चुनाव पुरुषों द्वारा एक जनसभा में किया गया जबकि अन्य स्त्रियां विमेंस क्रिश्चन टेंपरेंस यूनियन, बंगाल लेडीज एसोसिएशन तथा महिला समाज जैसे अनेक स्त्री संगठनों से आयीं थी। इन 10 महिलाओं में यूरोपीय, ईसाई, (भारतीय मूल), एक पारसी, एक रूढ़िवादी हिंदू, और तीन ब्राह्मण थी। पंडित रमाबाई भी उनमें से एक थी।''[10] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम में महिला अधिकारों का मुद्दा कभी किसी गंभीर चुनौती के स्तर पर प्रदर्शित नहीं किया गया। इस विषय पर एक सर्वदलीय सहमति सदैव कायम रही कि स्वतंत्रता प्राप्ति या डोमिनियन स्टेट का दर्जा ज्यादा जरूरी है तथा इस विषय को समाज सुधार के कार्यक्रमों के द्वारा हल किया जाना उचित होगा। अब यदि मिल की ओर लौटें तो उनके अनुसार ''सर्वसम्मत और व्यापक सिद्धांतों के नहीं होने से जिन बातों की स्वतंत्रता नहीं देना चाहिए उनकी स्वतंत्रता तो अक्सर दी जाती है और जिनकी देना चाहिए उनकी नहीं दी जाती। अर्वाचीन यूरोप में एक बात ऐसी है जिसके विषय में लोगों के स्वतंत्रता संबंधी मनोविकार बहुत ही प्रबल है, किंतु उस बात की स्वतंत्रता देना मेरी समझ में अनुचित है। जिन बातों से औरों का संबंध नहीं उनको यथेच्छ करने की हर आदमी को स्वतंत्रता है, परंतु यदि कोई दूसरा आदमी दूसरे के कामकाज को अपना ही समझने के बहाने उसे करना चाहे तो उनका प्रतिबंध जरूर करना चाहिए।''[11] हालांकि बंग–भंग आंदोलन में स्वदेशी के प्रचार–प्रसार व आंदोलन को गति देने के संदर्भ में महिलाएं किसी से कम नहीं थी और उनका यह उदारवादी संघर्ष प्रभावपूर्ण तरीके से जारी था।

1906 में कलकत्ता भारतीय समाज सम्मेलन में सरोजिनी नायडू ने कहा था ''तो फिर कोई भी मनुष्य किसी इंसान को उसके जीवन एवं आजादी की अविस्मरणीय विरासत से कैसे वंचित कर सकता है? आपके पिता नें आपकी माताओं के इस अविस्मरणीय जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित करके आपको लूटा है इसलिए मैं आपको चेतावनी देती हूँ कि आप अपनी स्त्रियों के परंपरागत अधिकारों को बहाल करें। क्योंकि जैसा मैंने पहले भी कहा है आप नहीं असली राष्ट्र निर्माता हम हैं, तथा हमारे सक्रिय सहयोग के बिना प्रगति के किसी भी बिंदु पर की जाने वाली आपकी सभी बैठकें एवं कांग्रेसें व्यर्थ होगी।''[12] 1915 में गांधी जी के भारत आगमन के पश्चात् स्वतंत्रा आंदोलन जन आंदोलन

में परिवर्तित हुआ और निश्चित तौर पर इसमें महिलाओं की भागीदारी पुरुषों से कहीं कम नहीं थी। चाहे असहयोग आंदोलन हो या सविनय अवज्ञा आंदोलन या फिर भारत छोड़ो आंदोलन गांधी जी के तीनों जन आंदोलनों में महिलाओं की निर्णायक भूमिका रही और उन्होंने अनेक अवसरों पर इसे स्वीकार भी किया। इसके समांतर जारी अन्य सामाजिक व राजनीतिक कार्यक्रमों में भी महिलाओं की सक्रिय भूमिका तो रही लेकिन सामाजिक बदलाव व सांस्कृतिक संदर्भों में महिला अधिकारों को वह अहमियत नहीं मिली जो मिलनी चाहिए थी। मिल के अनुसार ''इस विषय पर अधिक नहीं लिखने का दूसरा कारण यह है कि स्त्रियों पर चिरकाल से होने वाले अन्याय के जो पृष्ठपोषक इस बात ही को नहीं कबूल करते कि स्त्रियों को भी स्वतंत्रता देना चाहिए। वे खुले मैदान कहते हैं कि स्त्रियों पर पुरुषों की सत्ता होने ही में समाज का कल्याण है। अतएव विवाद किस बात पर किया जाए?''[13] इसी समय डॉक्टर भीमराव अंबेडकर भी दलित वर्ग में अपने अधिकारों के प्रति चेतना की जागृति का कार्य महिलाओं के सहयोग के बिना नहीं देख पा रहे। उनके प्रत्येक आंदोलन में 'स्त्री अधिकारों को पुरुषों के समकक्ष रखने की उनकी थीसिस' इस बात को पुष्ट करती है। भारत छोड़ो आंदोलन के बाद स्वतंत्रता संग्राम की सफलता के रूप में भारत स्वतंत्रता प्राप्त कर पाया। संविधान सभा के रूप में हमें एक उपहार प्राप्त हुआ, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से ही सही संविधान सभा जिसे अविभाजित भारत का संविधान निर्मित करने का दायित्व दिया गया था, भले ही उसे दो अलग देशों के रूप में पूरा कर पायी हो लेकिन कैबिनेट मिशन की इस कार्य योजना को हम संदेह की दृष्टि से नहीं देख सकते। भारत की संविधान सभा ने संविधान निर्माण के कार्य को स्त्री–पुरुष समानता के संदर्भ में पूर्ण निष्ठा व ईमानदारी के साथ संपन्न किया। ज्यादा खुशी की बात यह लगती है कि 389 सदस्यों में से मात्र 15 महिलाएं होने के बावजूद भी इसमें किसी भी स्तर पर स्त्री–पुरुष असमानता का समर्थन दिखाई नहीं दिया। 274 पुरुष सदस्यों का यह 'स्वतंत्रता के प्रति समानता का दृष्टिकोण' ही इस संविधान सभा को इससे पूर्व तथा पश्चात् बनी संविधान सभाओं से अतिरिक्त ऊंचा स्थान प्रदान करता है। यहां सुखद आश्चर्य इस बात का रहा कि भारत की संविधान सभा एक बहुदलीय संगठन थी जिसमें धुर दक्षिणपंथी, मध्यममार्गी, उदारवाद के जबरदस्त समर्थक, परंपरावाद के अनुयायी एक साथ मौजूद थे, लेकिन सभी ने सहमति दर्ज कराई कि अधिकारों के संदर्भ में स्त्री और पुरुष को स्वतंत्र भारत में पृथक पृथक नहीं देखा जा सकता। ''सामाजिक व प्राकृतिक सभी कारण मिलकर यह असंभव कर देते हैं कि महिलाएं संगठित तौर पर पुरुषों की सत्ता का विरोध कर सकें। वे इस अर्थ में अन्य पराधीन वर्गों से भिन्न स्थिति में है कि उनके मालिक उनसे वास्तविक सेवा के अतिरिक्त कुछ और भी चाहते हैं। पुरुष केवल महिलाओं की पूरी–पूरी आज्ञाकारिता ही नहीं चाहते, वे उसकी भावनाएं भी चाहते हैं। सबसे क्रूर व निर्दयी पुरुष को छोड़कर सभी पुरुष अपने निकटतम संबंधी महिला में एक जबरन बनाए गए दास को नहीं बल्कि स्वेच्छा से बने दास की इच्छा रखते हैं।''[14]

भारत की संविधान सभा ने प्रस्तावना से लेकर आखिरी अनुच्छेद के लेखन तक स्त्री–पुरुष समानता को विशेष तवज्जो दी है जो कि मूल अधिकारों, निदेशक तत्वों एवं अन्य प्रावधानों में बड़ी स्पष्टता के साथ दिखाई देती है। स्वतंत्रता के बाद जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में लोकतंत्र एवं समाजवाद का एक अद्भुत मिश्रण भारत में देखने को मिला, जिसमें नेहरू 'स्वतंत्रता के समान आवंटन को लेकर विशेष पूर्वाग्रही थे।' हालांकि हिंदू कोड बिल जैसे मुद्दे पर वे एक राय बनाने में कामयाब नहीं हो पाए और परंपरावादियों तथा उदारवादियों के इस संघर्ष में भारत ने डॉ. अंबेडकर के रूप में अपना बेहतरीन विधि मंत्री खो दिया। दरअसल समस्या कुछ और थी भारत का परंपरावादी समाज उस समय के आधुनिकतम संविधान को बर्दाश्त करने में असहजता महसूस कर रहा था। वह अधिकारों को लेकर तो सचेत था, लेकिन अपने निजी सामाजिक कर्तव्यों के प्रति उसके आग्रह बहुत अधिक प्रभावी नहीं थे। वो इस बात को समझ नहीं पा रहा था कि 'संविधान का क्रियान्वयन मात्र सरकार का दायित्व नहीं था, बल्कि उसमें उसका सकारात्मक सहयोग भी उतना ही आवश्यक' था।

दरअसल आजादी के बाद का स्त्री अधिकारों का संघर्ष थोड़ा अलग प्रकृति का रहा क्योंकि यह औपनिवेशिक शासन नहीं था, अतः विरोध के तरीके व संदर्भ अलग किस्म के थे। इसके अलावा हमने संसदीय लोकतंत्र को शासन की प्रक्रिया के रूप में स्वीकृत किया था और 1950 से गणतंत्रीय भारत में संविधानसम्मत विरोध के तरीके भी हमने

स्वयं को ही अर्पित किए थे। संविधान की प्रस्तावना को यदि हम विश्लेषित करें तो वह स्पष्टतः यही कहती है। स्वतंत्रता के तुरंत बाद तो नहीं हां इसके लगभग एक दशक बाद शहरी भारत से यह स्त्री अधिकार समर्थक आंदोलन उभरना प्रारंभ हुआ। यहां फिर एक अजीब सा समन्वय दिखाई दिया, वह यह था कि समाजवाद के प्रति आग्रह बढ़ता जा रहा था और उसके पीछे छिपी मार्क्सवादी आयातित रणनीतियां भी प्रभावी हो रही थी। एक बेहद चैंकाने वाला तथ्य यह भी रहा कि विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में जो संख्या में भले ही सीमित थे, वहां 'हिंसक विरोध का स्पष्ट विरोध' नहीं हुआ बल्कि उसके युवा वर्ग में रोपने की प्रक्रिया प्रारंभ की गयी। समाज की अपनी 'परंपराप्रियता भी कायम' थी। परिणामस्वरूप एक बड़ा अजीब सा असंतोष उत्पन्न हुआ जिसमें संसद व विधानमंडलों द्वारा बनाए जा रहे नवाचार समाज स्वीकृत नहीं कर पा रहा था और समाज की सहमति के बगैर उन्हें लागू करने में शासन प्रशासन दोनों को दिक्कत का सामना करना पड़ रहा था। ''देश के विभाजन तथा स्वाधीनता के फौरन बाद खेत श्रमिकों, किसानों, कम्युनिस्टों और समाजवादियों में छले जाने की भावना तेजी से उभरी यह वह समय था, जब भारतीय कम्युनिस्ट चीनी क्रांति के असर को शिद्दत से महसूस कर रहे थे।''[15]

मिल की अवधारणा अनुसार यह समय बड़ा संवेदनशील होता है, क्योंकि जनप्रतिनिधि भी उसी परंपरागत समाज के प्रतीक होते हैं और विधायिका सदस्य होने के कारण वे जनप्रतिनिधित्व के उदार तथा प्रगतिशील दायित्वों से स्वयं को मुक्त भी नहीं कर सकते। ऐसे में यह विरोधाभास अनेकों बार सामाजिक संघर्ष का प्रतीक भी बन जाते हैं लेकिन इस संघर्ष में एक चीज सामान्य है और वह है अभिव्यक्ति के अधिकार का संरक्षण तथा उसे समझने का साहस। मिल के ही शब्दों में ''कल्पना कीजिए एक को छोड़कर दुनिया भर के आदमियों की राय एक तरह की है और अकेले एक आदमी की राय दूसरी तरह की। यह भी कल्पना कर लीजिए कि उस अकेले आदमी का सामर्थ्य बहुत बड़ा चढ़ा है तो भी दुनिया भर के आदमियों का मुंह बंद कर देना उसके लिए जैसे न्याय संगत नहीं होगा वैसे ही उस अकेले आदमी का मुंह बंद कर देना दुनिया भर के आदमियों के लिए भी न्यायसंगत नहीं होगा। राय किसी एक आदमी की निज की चीज नहीं।''[16]

वस्तुतः भारत के परंपरागत समाज में परिवर्तन को स्वीकृति स्पष्टता से नहीं मिल पा रही है और इसके कई सांस्कृतिक कारण व पूर्वाग्रह हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि 'सामूहिक शासन की प्रक्रिया के रूप में लोकतंत्र को स्वीकृति अवश्य मिली है किंतु सांस्कृतिक स्तर पर अभी लोकतंत्र बेहद कमजोर स्थिति में है'। बहुधार्मिक–बहुसांस्कृतिक समाज में स्त्री–पुरुष समानता अभी सहजता से स्वीकार्य नहीं हुई है। पितृसत्तात्मक सोच का प्रभुत्व अभी टूटा नहीं है। भारत में लोकतंत्र को स्वीकृति एक बड़ा बदलाव है जो मानसिक परिवर्तन के लिए एक सशक्त माध्यम की भूमिका निभा रहा है। ''वस्तुतः भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा जनित उदीयमान तनाव हमारा ध्यान नीतिगत क्रांतिकारी परिवर्तनों के साथ परिवर्तन की रणनीति में अति आवश्यक और अति समन्वय की ओर निर्दिष्ट करते हैं। विभिन्न बिंदुओं पर व्यवस्था में अंतर्विरोध उभर रहे हैं जो कि स्वातंत्र्योत्तर काल के दौरान आधुनिकीकरण हेतु प्रारंभ किए गए असमन्वित संस्थागत सुधारों तथा आर्थिक उपायों का परिणाम है।''[17] वर्तमान समय में संसद तथा राज्य विधानमंडलों एवं प्रशासनिक स्तर पर किए जा रहे स्त्री अधिकार संरक्षक कार्य समाज द्वारा सहमति प्राप्त करते जा रहे हैं। हालांकि विधि विभाग के आंकड़े थोड़े तीखे हैं, जो बढ़ते अपराधों की ओर इशारा करते हैं, लेकिन हां यह स्पष्ट है कि समाज अब बराबरी की ओर देख रहा है। 73वें व 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से यह घोषित किया गया कि पंचायतों व शहरी स्थानीय निकायों में महिला अधिकार सुनिश्चित हैं। धीमे धीमे ये संसद व राज्य विधायिकाओं तक भी पहुंचेगे। एक लंबे अरसे से यह वहां दस्तक भी दे रही है और यथासंभव वह द्वार भी इसके लिए खुलेंगे। शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक इस अनुक्रम में भारत का यह स्त्री अधिकार आंदोलन आगे बढ़ रहा है। गति थोड़ी धीमी हो सकती है पर दृढ़ है। यही वह समाज है जिसने हिंसक क्रांतिकारी आंदोलन को अस्वीकार कर गांधी की क्रमागत संशोधनवादी उंगली को पकड़ कर आगे बढ़ना स्वीकार किया था। स्पष्ट था कि इस राष्ट्र ने 'हिंसा के स्थान पर थोड़े इंतजार' को अहमियत दी और परिणाम सामने है। बड़े–बड़े देशों में जो शिक्षा और सभ्यता के आत्मघोषित केंद्र माने जाते थे, वहां लोकतंत्र के समक्ष बड़े प्रश्नवाचक चिन्ह खड़े किए गए लेकिन भारत में यह आज भी पूरे सम्मान व सहमति के साथ कायम है। लोकतांत्रिक समाजवाद में जनता

ने 'लोकतंत्र' का पक्ष थामा है और सरकार ने 'समाजवाद' का।

1865 से 1868 की अवधि में जॉन स्टुअर्ट मिल लिबरल पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में हाउस ऑफ कॉमंस के सदस्य रहे। 1867 में आपने महिला मताधिकार के संदर्भ में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया क्योंकि 1866 से कंजरवेटिव पार्टी सत्तारूढ़ थी और डिजरायली 'चांसलर ऑफ एक्सचेकर' थे, अतः मिल का यह प्रस्ताव उस परंपरावादी दल ने पूरी गंभीरता से अस्वीकार किया, बहस चलती रही। बाद में 'रिप्रेजेंटेशन ऑफ द पीपुल एक्ट–1918 के द्वारा इंग्लैंड में एक सीमित मताधिकार महिलाओं को दिया गया जिसमें एक निश्चित शैक्षणिक योग्यता तथा 30 वर्ष की आयु अनिवार्य थी जबकि पुरुषों के लिए यह आयु 21 वर्ष थी और यदि पुरुष सैनिक है तो 19 वर्ष। इसके बरसों बाद 'इक्वल फ्रेंचाइजीज एक्ट–1928' मे ब्रिटेन की 21 वर्ष की सभी महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया गया जबकि ब्रिटिश संसद की स्थापना 1707 में हुई थी। 221 साल लगे ब्रिटिश महिलाओं को अपना जायज हक प्राप्त करने में। अब याद कीजिए भारत के संविधान के अनुच्छेद–326 को जिसमें व्यस्क मताधिकार को बगैर किसी भेदभाव के जनता को अर्पित किया गया है। भारत देश इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ रहा हैं।

fu"d"k

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने सदियों पुराने पितृसत्तात्मक–सामंती समाज में एक क्रमागत वैचारिक कार्यक्रम के रूप में उदारवाद को प्रस्तुत करते हुए 'स्त्रियों के अधिकारों के संदर्भ में उनका लेखन बेहद प्रभावशाली कार्य किया तथा तथा पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों–विचारों–संस्थाओं के टूटने की प्रक्रिया की शुरुआत के लिए स्त्री पुरुषों के बीच पूर्ण कानूनी समानता, स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता, शिक्षा और रोजगार के समान अवसर तथा सामाजिक–राजनीतिक सक्रियताओं में स्त्रियों की भागीदारी को अनिवार्य बुनियादी शर्त बताया। ब्रिटिश व भारतीय समाज दोनों की परिस्थितियों में इस विषय पर समानता ही थी। राजा राम मोहन रॉय आदि सुधारकों को प्रारम्भ में तो ब्रिटिश व्यवस्था ने सहारा दिया पर बाद में उन्होंने ये हस्तक्षेप भी बंद कर दिया। भारत के स्वतंत्रता संघर्ष और कांग्रेस के कार्यक्रमों तथा आंदोलनों में महिला प्रतिनिधित्व व सहभागिता में समय के साथ उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। संविधान निर्माण से लेकर आगे हुए संशोधनों तक महिला अधिकारों व उनकी सहभागिता पर जोर दिया गया, और इसके पीछे मिल के लेखनों व कार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि स्त्री अधिकारों के संदर्भ में मिल के साथ भारतीय समाज ने एक बेहतरीन जुगलबंदी निभाते हुए आन्दोलन के इतिहास में महती भूमिका निभाई है।

lanHkZ lwph

1. *ऑन लिबर्टी*, जे.एस. मिल की रचना का हिंदी अनुवाद 'स्वाधीनता' – अनु. महावीर प्रसाद द्विवेदी, राधा पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2006, पृष्ठ–51।
2. जौहरी जे.सी., *तुलनात्मक राजनीति,* स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली 1988, पृष्ठ–82।
3. *मॉर्डनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन,* योगेंद्र सिंह का हिंदी अनुवाद 'भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण' – अनु. अरविंद कुमार अग्रवाल, रावत पब्लिकेशंस दिल्ली, 2006, पृष्ठ–221।
4. *द सब्जैक्शन ऑफ वीमैन,* जॉन स्टुअर्ट मिल के निबंध का हिन्दी अनुवाद 'स्त्रियों की पराधीनता' – अनु. प्रगति सक्सेना में संपादक कात्यायनी एवं सत्यम् के संपादकीय से, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–30।
5. कुमार राधा, *स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800–1990),* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ–26।
6. सिन्हा एन.के., *हिस्ट्री ऑफ बंगाल (1757–1950),* संपादक, बी. आर. पब्लिशिंग कलकत्ता, 1967, पृष्ठ–233।
7. कुमार राधा, *स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800–1990),* वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ–27।

8. *द सब्लैक्शन ऑफ वीमैन,* जॉन स्टुअर्ट मिल के निबंध का हिन्दी अनुवाद 'स्त्रियों की पराधीनता' – अनु. प्रगति सक्सेना, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–26।
9. *द सब्जैक्शन ऑफ वीमैन,* जॉन स्टुअर्ट मिल के निबंध का हिंदी अनुवाद 'स्त्रियों की पराधीनता' – अनु. प्रगति सक्सेना, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–34,35।
10. सोर्स मेटीरियल फॉर ए हिस्ट्री फॉर द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया खण्ड–2 1885–1920 गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस बंबई, 1958, पृष्ठ–95।
11. *ऑन लिबर्टी,* जे. एस. मिल की रचना का हिंदी अनुवाद 'स्वाधीनता' अनु. महावीर प्रसाद द्विवेदी, राधा पब्लिकेशंस नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ–216।
12. नायडू सरोजिनी, *स्पीचेज एंड राइटिंग्स,* जी. ए. नेटसन मद्रास, 1904, पृष्ठ–18 से 20।
13. *ऑन लिबर्टी,* जे. एस. मिल की रचना का हिंदी अनुवाद 'स्वाधीनता' अनु. महावीर प्रसाद द्विवेदी, राधा पब्लिकेशंस नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ–217।
14. *द सब्जैक्शन ऑफ वीमैन,* जॉन स्टुअर्ट मिल के निबंध का हिंदी अनुवाद 'स्त्रियों की पराधीनता'– अनु. प्रगति सक्सेना, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–46।
15. कुमार राधा, *स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800–1990),* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ–204।
16. *ऑन लिबर्टी,* जे. एस. मिल का हिंदी अनुवाद 'स्वाधीनता' अनु. महावीर प्रसाद द्विवेदी, राधा पब्लिकेशंस नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ–74।
17. *मार्डनाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशंस,* योगेंद्र सिंह का हिंदी अनुवाद 'भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण' – अनु. अरविंद कुमार अग्रवाल, रावत पब्लिकेशंस दिल्ली, 2006, पृष्ठ–355, 356।

****